

पूनम गुप्ता
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली
मो.नं.- 9013272896
Email- punamcil@gmail.com

शोध सारांश

पश्चिमी दुनिया के लोग सभ्यता के विकास के साथ-साथ मानवीय संबंधों एवं व्यवहारों को भी विकसित करते चले गए, लेकिन भारत की ऐसी कौन-सी ऐतिहासिक एवं भौगोलिक परिस्थितियां रही हैं कि यहां के लोग विकास को अवरुद्ध करने वाली जाति पर आधारित क्रूर सामाजिक व्यवस्था को प्राचीनकाल से अब तक ढोते चले आ रहे हैं। इतना ही नहीं इस मानव विरोधी व्यवस्था को धर्म तथा साहित्य के एक बड़े हिस्से ने संरक्षण प्रदान किया। भारत की सामाजिक संरचना जाति-व्यवस्था पर आधारित है और यह हमारे समाज की सबसे बड़ी समस्या है।

बीज शब्द- जाति, समाज, धर्म, ब्राह्मणवाद, शोषक, शोषित, समानता, अधिकार।

विस्तार- आधुनिक भारतीय इतिहास का सबसे महत्वपूर्ण अध्याय स्वाधीनता संग्राम है, परंतु क्या स्वाधीनता संग्राम परिवर्तनकारी प्रकृति का सिद्ध हुआ ? यदि स्वाधीनता संग्राम परिवर्तनकारी प्रकृति का रहा होता, तो संभवतः भारतीय जनता के बीच से जाति-व्यवस्था पर आधारित भेदभाव की अमानवीय प्रवृत्ति कब की समाप्त हो चुकी होती। ऐसे में स्वाधीनता संग्राम की पूरी प्रक्रिया संदेहास्पद हो जाती है।

फुले-अंबेडकर के द्वारा इस जड़वादी व्यवस्था को उखाड़ फेंकने के प्रयास एवं संवैधानिक कानून की व्यवस्था के बावजूद भी आज पूरे देश में जातिगत हिंसा एवं भेदभाव जारी है। ऐसा क्यों, आखिर इस सवाल का जवाब कहां ढूंढा जाए ? जाति-व्यवस्था को खत्म कर समानता युक्त समाज का निर्माण कैसे किया जाए ? क्या साहित्य के माध्यम से इसका जवाब मिल सकता है ? इस दिशा में बाजार, मीडिया, प्रजातंत्र, न्याय-व्यवस्था, शिक्षा-व्यवस्था आदि की क्या भूमिका है ? इन बिन्दुओं पर विचार करना आवश्यक है।

वर्तमान समय में जाति-समस्या के बदलते स्वरूप के कारण विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग स्वार्थवश अपने जन्मजात अधिकार को बचाने के लिए नए-नए हथकंडे ईजाद कर रहा है, वहीं वंचित तबका अपने हक और अधिकार को पाने के लिए संघर्षरत है। भारत आजाद हो गया और समानता के अधिकार हेतु संवैधानिक कानून बना दिए गए, लेकिन क्या इतने वर्षों में भी आज तक समाज में समानता स्थापित हो पाई ? जाति विहीन समाज



निर्माण के खिलाफ ब्राह्मणवादी वर्चस्वशाली वर्ग के नजरिए को ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी कहानी 'प्राइवेट वार्ड' में एक सवर्ण पात्र के माध्यम से इस प्रकार व्यक्त करते हैं- "राकेश जी, हमारे पुरखे, ऋषि-मुनि, स्मृतियों के रचनाकार मूर्ख नहीं थे। दूरदर्शी थे। तभी तो इतने हजारों साल से समाज पर ब्राह्मणों का वर्चस्व बना हुआ है। क्या इसे ऐसे ही छोड़ देंगे..."¹ अपने स्वार्थ हित में बनाए गए जाति-व्यवस्था को सवर्ण समाज इतनी आसानी से खत्म क्यों होने देना चाहेगा ? जिसके बल पर वह सदियों से वंचित समाज पर राज करते आ रहा है।

जिस व्यवस्था को साजिश के तहत सवर्णों ने अपने हित में बनाया था, उसे चरमराता देख उन्होंने नए तरह के हथकंडे अपनाने शुरू किए और शोषण का नया तरीका ईजाद किया। जहां पहले वंचित समाज के लोगों को डरा-धमकाकर काम करवाया करते थे, वहीं अब अपनत्व जताकर काम करवाते हैं। कुछ इसी तरह की बातों का रेखांकन सुशीला टाकभौर 'टूटता वहम' नामक कहानी में अपनी भावनाओं का उद्गार व्यक्त करते हुए कहती है कि "अगर शुरू से खुलेआम यह जताया जाता कि तुम और हम बराबर नहीं हैं, हम अपनी नीतियों और मान्यताओं से तुम्हें अपने बराबर होने नहीं देंगे- तो शायद मन वहम में न रहता। मगर यहां तो धोखे के सुनहरे जाल में बड़े प्यार से भरमाया जाता है।"² इस प्रकार अभी भी शोषक वर्ग अपना काम करवाते हैं, परंतु परिस्थितियां बदल जाने से उनके काम कराने का तरीका बदल गया है।

पूंजीवाद ने विश्व को दो भागों में बांट दिया है- अमीर और गरीब। उन्हें किसी की जाति से कोई लेना देना नहीं है ऐसा कहा जाता है। परंतु भारत में पूंजीवाद के हो रहे विस्तार के बावजूद थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ जाति-व्यवस्था कायम है, क्योंकि जिनके हाथ में शुरू से ही सत्ता की बागडोर थी, जिसने सदियों से राज किया ; आर्थिक स्थिति भी उन्हीं की बेहतर होगी। जिसकी आर्थिक स्थिति ही ऐसी है कि वे सदियों से अभावग्रस्त जीवन जीने को मजबूर हैं, फिर उनकी स्थिति में सुधार कैसे हो सकता है। ऐसे में पूंजीवाद और वैश्वीकरण के दौर में भी फायदा उन्हीं वर्चस्वशाली लोगों को होगा, जो जाति-व्यवस्था के तहत जन्मनः आर्थिक रूप से ऊंचे पायदान पर हैं।

इस सन्दर्भ में अम्बेडकर का यह विचारणीय है- "क्या यह कहा जा सकता है कि भारत का सर्वहारा-वर्ग जैसा कि वह गरीब है, अमीर और गरीब के अलावा किसी भेदभाव को मान्यता नहीं देता ? क्या यह कहा जा सकता है कि भारत के गरीब जातियों और वंश, ऊंच और नीच के भेदभाव को मान्यता नहीं देते ? अगर सत्य यह है कि वह ऐसा करते हैं तो अमीरों के खिलाफ संघर्ष में ऐसे सर्वहारा से किसी मोर्चे पर एकता की क्या उम्मीद की



जा सकती है ? कोई क्रांति कैसे हो सकती है अगर सर्वहारा एक संयुक्त मोर्चा नहीं बना सकते ?”³ जाति भेद का उच्छेद पृष्ठ 35

यही स्थिति स्त्रियों की भी है। सवर्ण और दलित दोनों ही स्त्रियां उत्पीड़न की शिकार हैं, इसके बावजूद वह इस उत्पीड़न के खिलाफ संयुक्त मोर्चे पर एक साथ दिखाई नहीं पड़ती हैं, क्योंकि सवर्ण स्त्रियां अपने ही घरों में गुलामी की जिन्दगी जीती हैं और गुलामी की जिन्दगी जीते हुए भी वह दलित स्त्रियों के साथ वैसा ही भेदभाव करती हैं जैसाकि सवर्ण पुरुष।

स्त्रियों की स्वतंत्र चेतना के विकास की धारा को अवरुद्ध करने तथा ज्ञान आदि क्षेत्रों में उनके प्रवेश को रोकने के लिए शातिर सवर्ण समाज किस प्रकार अपने घर की स्त्रियों पर पहरा लगाए हुए है। इसे शिवमूर्ति अपनी कहानी ‘बनाना रिपब्लिक’ में उद्धाटित करते हुए लिखते हैं कि “पिछड़ी या दलित औरतें तो सभा, जुलूस या मेले-ठेले में चली भी जाती हैं, सवर्ण औरतों की बड़ी आबादी अभी भी गांव से बाहर नहीं निकलती। मायके से विदा हुई तो ससुराल में समा गईं। ससुराल से निकलती है तो सीधे शमशान के लिए। देवी के थान पर लपसी, सोहारी चढ़ाने के लिए जाना ही उनकी तीर्थयात्रा या पिकनिक है।”⁴ यही कारण है कि सवर्ण स्त्रियों की चेतना और व्यक्तित्व का समुचित विकास नहीं हो पाता है तथा स्वयं दासता के बंधन में बंधे होने के बावजूद जाति-व्यवस्था जैसी अमानवीय प्रथाओं को आजीवन ढोती फिरती हैं।

जाति-व्यवस्था हमारे समाज की एक गंभीर समस्या है। चूंकि समाज का साहित्य से गहरा संबंध होता है इसलिए अधिकांश रचनाओं में जाति-समस्या प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से देखने को मिल ही जाती है। इससे हर तबका पीड़ित है, वहीं दोहरे चरित्र वाले जाति-व्यवस्था के लाभार्थी वर्ग जो एक तरफ आधुनिकता की दलील देते हुए यह कहते नजर आते हैं कि हम जाति जैसी किसी चीज को मानते ही नहीं। लेकिन जब भी सत्ता स्थानांतरण की बात आती है तो वे अपने जातिवादी रंगत में आ ही जाते हैं। समय की नब्ज को परखते हुए यदि सवर्ण निम्न वर्ग के साथ तालमेल बिठाने की कोशिश कर भी रहे हैं तो इस सकारात्मक बदलाव में सवर्ण समाज की मंशा कितनी है और मजबूरी कितनी ? दलितों की स्थिति में सुधार होना चाहिए ; सवर्ण समाज यह कहकर अपने आप को पूरी तरह दोषमुक्त तो कर लेता है लेकिन वह यह कभी नहीं कहता है कि हिंदू धर्म या सवर्ण समाज में सुधार होना चाहिए। जातिगत भेदभाव एवं अंधविश्वासों को खत्म करना चाहिए। मानो सवर्णों की दृष्टि में कोई खोट ही न हो।



वर्तमान समय में जाति-व्यवस्था के उन्मूलन में सरकारी संस्थाओं का नजरिया कैसा है ? किस प्रकार आधुनिक शब्दावली और कानूनी प्रक्रिया का इस्तेमाल करते हुए राज्य जाति जैसी संस्थाओं को आज मजबूती प्रदान कर रही है ? यह प्रश्न महत्वपूर्ण है। जिस प्रकार सरकार ने अभी आधार नंबर को व्यक्ति का मूल पहचान बना दिया है, ठीक उसी प्रकार महेश कटारे की कहानी 'अंकगणित में विदूषक' में भी नंबर के द्वारा ही व्यक्ति की पहचान सुनिश्चित करने की प्रक्रिया की आलोचना प्रस्तुत की गई है। जहां आज जरूरत है धर्म एवं जाति की घेराबंदी से व्यक्ति को मुक्त करके नफरत और भेदभाव के आधार को समाप्त करने की, वहीं सरकारी तंत्र नंबर के द्वारा व्यक्ति की पहचान सुनिश्चित करने के नाम पर उसे जाति-धर्म आदि में बांधे रखना चाहती है। इस संबंध में कहानी का उदाहरण इस प्रकार है- "आज सबसे पहले अपना नंबर गज्जू लाया। ब्लॉक ऑफिस में लटकी सूची से उसने उतारा था एम.जी.एच. थर्टी सेवन। अपने नाम से बड़ा नाम पाकर वह थोड़ा असहज हुआ था कि गजेंद्र को इस तरह तान क्यों दिया गया है। कार्यालय के बाबू ने ही समझाया कि इस नंबर में पहले जाति है- एम यानी महतो, जी तो गजेंद्र है ही...एच से पता चलता है कि वह हिंदू है।...तो नाम से ही सब कुछ साफ हो जाता है।"⁵ यहां हम पाते हैं कि राज्य की संस्थाएं कैसे जाति को पुनर्जीवित रखना चाहती हैं, जबकि उनका दायित्व जाति-व्यवस्था को खत्म करना है। अतः जातिविहीन समाज निर्माण के नजरिए से राज्य की भूमिका के प्रति आलोचनात्मक दृष्टि रखने की जरूरत जान पड़ती है। सरकारी संस्थाओं यथा- शिक्षण संस्थाओं में किस तरह का जातिगत भेदभाव होता है ? उसकी भी जांच पड़ताल करने की जरूरत जान पड़ती है। जाति-धर्म के नाम पर आए दिन किस तरह निर्दोष लोगों को मारा जाता है ? उसको रोकने में सरकार, पुलिस-प्रशासन कितना सफल है ? मीडिया इन खबरों को जनता के बीच किस तरह परोसती है ? इसका भी परीक्षण किया जाना चाहिए। चूंकि साहित्यकार भविष्यद्रष्टा होता है तो वह इन मसलों को अपनी रचनाओं में कितनी संजीदगी से उठाता है ? यह भी एक महत्वपूर्ण बिंदु है।

संविधान में प्रदत्त राजनीतिक समानता के फलीभूत होने में जो चुनौतियां सामने आ रही हैं उसे शिवमूर्ति अपनी कहानी 'बनाना रिपब्लिक' में बहुत ही सारगर्भित टिप्पणी करते हुए इस प्रकार दर्ज करते हैं कि "ऐसी एक बड़ी आबादी है जो आज भी जाति-व्यवस्था को ब्रह्मा की लकीर मानती है। वह मानती है कि सवर्णों के गांव में दलित को परधानी की कुर्सी पर बैठाना सवर्णों के सिर पर बैठाना हुआ।"⁶ ऐसे में राजनीतिक समानता कैसे आएगी ? उक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि 'सामाजिक और आर्थिक समानता के बगैर राजनीतिक समानता संभव नहीं है।' अंबेडकर का यह कथन आज भी अत्यंत ही प्रासंगिक है।



निष्कर्ष- भारत में जाति-समस्या के सन्दर्भ में इन सारे पहलुओं पर विचार करने में विविध जटिलताएं

नजर आती हैं। ऐसे में इससे निजात पाने का रास्ता काफी दुस्साहस भरा और कठिन हो जाता है। इस दुर्गम चुनौतियों का सामना करने के लिए समाज में व्यापक स्तर पर परिवर्तनकामी संघर्ष की जरूरत जान पड़ती है।

संदर्भ सूची

- ¹ ओमप्रकाश वाल्मीकि, छतरी, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2013, पृ.सं. 42
- ² सुशीला टाकभौरे, टूटता वहम, अनिरुद्ध बुक्स, दिल्ली, 2012, पृ.सं. 46
- ³ डॉ. अम्बेडकर, जाति भेद का उच्छेद, गौतम बुक सेन्टर, दिल्ली, 2010, पृ.सं. 35
- ⁴ शिवमूर्ति, कुच्ची का कानून, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2017, पृ.सं. 39
- ⁵ महेश कटारे, छछिया भर छाछ, अंतिका प्रकाशन, 2006, पृ.सं. 96
- ⁶ शिवमूर्ति, कुच्ची का कानून, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2017, पृ.सं. 39